सम्यक्ज्ञान : एक समीक्षात्मक विश्लेषण

☐ मुनि रमेश [सिद्धान्ताचार्य, साहित्यरत्न]

ज्ञान की सार्वदेशिक महत्ता

चक्षुविहीन अन्धे प्राणी को शत्रु-मित्र का, चोर-साहूकार का, विष-अमृत का, पाषाण-पारस का, नकली-असली का एवं अपने और पराये का सम्यक् बोध नहीं हो पाता है।[1] अतिशीघ्र वह अपने को शत्रु के मायाजाल में जकड़ा देता है। स्व और पर की रक्षा करने में वह सामर्थ्यहीन रहता है। परपेक्षीय रहकर सदा दूसरों का सहारा ढूंढ़ा करता है। तुच्छ शक्ति भी हानि पहुँचाने में सफल हो जाती है। मतलब यह है कि—उसके लिए एक-एक कदम भी खतरे से खाली नहीं है। पता नहीं वह किस समय संकट के गहरे गर्त्त में गिरकर अपने देव दुर्लभ देह को क्षत-विक्षत करदे।

उसी प्रकार सम्यक्ज्ञान रूपी आँखें नहीं खुलने पर उस जीवात्मा की भी वैसी ही शोचनीय स्थिति बन जाती है। कारण यह है कि ज्ञान रूपी कसौटी के अभाव में हेय, ज्ञेय और उपादेय, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य एवं हित-अहित का उसे कुछ भी विवेक नहीं रहता और विवेक के अभाव में स्वकीय-परकीय अहित करके दुर्गति के द्वार उघाड़ देता है। इसी कारण ज्ञान की महत्ता बताते हुए मात्र, ज्ञान को ही प्रमाणभूत माना है। जीवाजीव आदि तत्त्वों का निश्चय करने में और हेय-उपादेय का विवेक करवाने में ज्ञान ही एक सबल प्रमाण है।[2] न्यायदर्शन की टीका में लिखा है—"**ज्ञान प्रकाशमानमेवार्थ प्रकाशयति प्रकाशत्वात् यथा प्रदीपवत्**" अर्थात् दीपक की तरह ज्ञान समस्त चराचर वस्तुओं को प्रकाशित करने वाला है। इसी मान्यता की परिपुष्टि व्यवहारभाष्य में की है—"ज्ञान विश्व के समस्त रहस्यों को प्रकाशित करने वाला है और ज्ञान से ही मनुष्य को कर्त्तव्य का सम्यक् बोध होता है।[3]

एकदा गौतम गणधर ने प्रभु महावीर से पूछा—भंते ! क्या ज्ञान इह-भविक (इस भव में) पर-भविक (परभव में) साथ रहता है या उभय भविक है ?[4]

प्रत्युत्तर में प्रभु महावीर ने कहा—गौतम ! ज्ञान सदैव आत्मा के साथ रहता है। अर्थात् ज्ञान इह-भविक, पर-भविक और उभय-भविक है।[5]

---

१ अन्नाणी किं काही ? किं वा नाहिइछेय पावगं ? —दश० ४।१०

२ (क) स्व-पर व्यवसायी ज्ञानं प्रमाणम्।
(ख) अभिगतानभिगत वस्तु स्वीकार तिरस्कार क्षमं हि प्रमाणं अतो ज्ञानमेवेदम्।
—प्रमाण-नय-तत्वालोक १।२।३

३ सव्व जग्गुजोय करं नाणं।
नाणेण नज्जए चरणं॥ —व्यवहारभाष्य ७।२१६

४ इहभविए भंते ! णाणे परभविए णाणे तदुभय भविए णाणे······।

५ गोयमा ! इहभविए वि णाणे, परभविए वि णाणे तदुभय भविए वि णाणे। —भगवती सूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान ज्ञानी से भिन्न नहीं, अभिन्न है

प्रायः सभी आस्तिक दर्शन किसी न किसी रूप में ज्ञान की महत्ता को निःसंकोच स्वीकार करते हैं। परन्तु ज्ञान के मूल भेद और अवान्तर भेद कितने हैं? इन्द्रियजन्य ज्ञान और अनिन्द्रिय-जन्य ज्ञान कौनसा है? कौनसा ज्ञान किन-किन विषयों का साक्षात्कार कराता है? ब्रह्म (केवल) ज्ञान की क्या परिभाषा, क्या विशेषता है? यह कब और किनको होता है? उक्त प्रश्नों का उचित समाधान विश्व के समस्त दर्शनों की अपेक्षा केवल जैनदर्शन ही प्रस्तुत करने में सक्षम है।

भगवान महावीर ने कहा है—जो ज्ञाता है, वह आत्मा है और जो आत्मा है वह ज्ञाता है।[१] ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। दृश्यमान और अदृश्यमान संसार उसका ज्ञेय विषय है। ज्ञान और ज्ञेय दोनों ज्ञानी से कभी दूर नहीं होते हैं। कदाच् ज्ञेय दूर होने पर भी ज्ञानी आत्मा उसे जान लेती है; क्योंकि आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है।[२] भले आत्मा घनीभूत कर्मावरण से आवृत हो या फिर निगोद जैसी निम्न स्तरीय योनि में पहुँच गई हो तथापि आत्मा का उपयोग (चेतना) गुण न पूर्ण रूप से नष्ट होता है और न पूर्णरूपेण आवृत ही। जिस प्रकार भले कितने भी सघन बादल आकाश मण्डल में छा जायें, फिर भी सूर्य के प्रकाश का दिवस सूचक आलोक बिल्कुल विलुप्त न होकर स्वल्पांश में भी खुला रहता है। इसी प्रकार आत्मा का विशिष्ट ज्ञान गुण कभी भी आत्मा से विलग नहीं होता है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो फिर जीव जड़त्व गुण में परिणत हो जायगा। सभी शाश्वत द्रव्य अपने-अपने स्वभाव गुण से भ्रष्ट हो जायेंगे। संसार में शाश्वत धर्म वाला कोई द्रव्य नहीं रहेगा; परन्तु ऐसा कभी हुआ नहीं है। यह ध्रुव सिद्धान्त है कि—द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सभी द्रव्य नित्य और शाश्वत हैं। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सभी द्रव्य अनित्य और अशाश्वत माने हैं। अनादिकाल से सभी द्रव्य इसी क्रमानुसार अपने-अपने गुण पर्यायों में परिणमन करते रहते हैं।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये जीवात्मा के लक्षण हैं।[3] ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग की दृष्टि से उपयोग दो प्रकार का माना है। अर्हन्त दर्शन में ज्ञानोपयोग के पाँच भेद इस प्रकार बताये हैं—

मतिज्ञान
श्रुतज्ञान
अवधिज्ञान
मनःपर्यवज्ञान
केवलज्ञान।[४]

---

१ जे विन्नाय से आया, जे आया से विन्नाया —आचारांग सूत्र १।५।६

२ (a) There is Power of Knowledge in my self.
(b) I know every thing by my power of knowledge.
—Jainism for Children

३ (क) नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्षणं॥ —उत्तरा० २८।११
(ख) उपयोगो लक्षणम् (उपयोगकत्वं जीवस्स लक्षणम्) —तत्वार्थ सूत्र २।८

४ (क) नाणं पंचविहं पन्नतं तं जहा—आभिणिबोहियनाणं, सुयनाणं, ओहिनाणं, मनपज्जवनाणं, केवलनाणं। —नंदी सूत्र
(ख) तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभनिबोहियं।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं॥ —उत्तरा० २८।४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रखता है, उस ज्ञान को परोक्ष प्रमाण की श्रेणी में गिना है। क्योंकि वह अस्पष्ट है।[१] इसलिए मति और श्रुतज्ञान परोक्ष माने हैं।[२] जो ज्ञानानुभूति इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्म-भाव से प्रगट होती है, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष प्रमाण की संज्ञा दी गयी है।[3] क्योंकि वह स्पष्ट है। इसीलिए अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण की श्रेणी में माना है।[४]

मति (आभिनिबोधिक) ज्ञान

जिस ज्ञान में इन्द्रिय और मन की प्रवृत्ति हो और शास्त्रादि रूप श्रुति की प्रधानता न हो, उसे मतिज्ञान कहा गया है।[५] मतिज्ञान पाँच इन्द्रियों से और छठे मन से उत्पन्न होता है। उसके मुख्य भेद निम्न हैं।

अवग्रह
ईहा
अवाय
धारणा[६]

जैसे प्रत्येक मनुष्य शिशु, बालक, कुमार, युवक, प्रौढ़ आदि अवस्थाओं को क्रमपूर्वक ही प्राप्त करता है, उसी प्रकार उपयोग भी दर्शन, अवग्रह आदि अवस्थाओं को पार करता हुआ ही धारणा की अवस्था प्राप्त करता है। यह क्रिया अतिशीघ्र हो जाती है। इसी कारण क्रम का अनुभव नहीं होता। एक-दूसरे के ऊपर कमल के सौ पत्ते रखकर उनमें नुकीला भाला चुभो दिया जाय तो वे सब पत्ते क्रम से ही छेदे जायेंगे, पर यह मालूम नहीं पड़ जाता कि—भाला कब पहले पत्ते में पहुँचा, कब उससे बाहर निकला, कब दूसरे पत्ते को छेदा इत्यादि। इसका कारण गति का तीव्र प्रवाह है। जब भाले का वेग इतना तीव्र हो सकता है तो ज्ञान जैसे सूक्ष्मतर पदार्थ का वेग उससे भी अधिक तीव्र क्यों न होगा?[७]

दूर से ही जो अव्यक्त ज्ञान होता है, उसे अवग्रह कहते हैं। अवग्रह के द्वारा जाने हुए सामान्य विषय को विशेष रूप से जानने की विचारणा को "ईहा", ईहा के द्वारा जाने हुए पदार्थों में विशेष का निर्णय होना "अवाय" और अवाय ज्ञान जब दृढ़ हो जाता है, तब धारणा की कोटि में गिना जाता है।[८] उक्त चारों प्रकार का अव्यक्त ज्ञान कभी स्पर्शनेन्द्रिय से, कभी रसनेन्द्रिय से, कभी घ्राणेन्द्रिय से, कभी चक्षुइन्द्रिय से कभी श्रोत्रेन्द्रिय से और कभी मन से होता है।

---

१ अस्पष्टं परोक्षम्। —प्रमाणनय तत्त्वालोक ३।१

२ आद्ये परोक्षम्। —तत्वार्थसूत्र १।११

३ पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तावात्म मात्रापेक्षम् —प्र० न० त० २।१८

४ प्रत्यक्षमन्यत् —तत्वार्थसूत्र १।१२

५ तत्रेन्द्रिय मनो निमित्तं श्रुतानुसारी ज्ञानं मतिज्ञानम्। —जैन तर्क भाषा—मतिज्ञान स्वरूप

६ (क) अवग्रहेहावायधारणाः —तत्वार्थसूत्र १।१४
(ख) एतद् द्वितयमवग्रहेऽवायधारणा भेदादेकशश्चतुर्विकल्पकम्। —प्रमाणनयतत्त्वालोक २।६

७ क्वचित् क्रमस्यानुपलक्षणमेषामाशुत्पादात्, उत्पलपत्र शतव्यति भेद क्रमवत्। —प्रमाणनयतत्त्वालोक २।१७

८ (क) अवकृष्टोग्रह अवग्रहा।
(ख) अवग्रहीतार्थ विशेषाकांक्षणमीहा।
(ग) ईहित विशेष निर्णयोऽवायः।
(घ) स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा। —जैन तर्कभाषा—अवग्रह स्वरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पर्शनेन्द्रिय से—अवग्रह ईहा अवाय धारणा
रसनेन्द्रिय से—अवग्रह ईहा अवाय धारणा
घ्राणेन्द्रिय से—अवग्रह ईहा अवाय धारणा
चक्षुइन्द्रिय से—अवग्रह ईहा अवाय धारणा
श्रोत्रेन्द्रिय से—अवग्रह ईहा अवाय धारणा
मन से—अवग्रह ईहा अवाय धारणा

मतिज्ञान के अन्तर्गत अर्थावग्रह के २४ भेद हुए। इनमें स्पर्शनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह, रसना व्यंजनावग्रह, घ्राण व्यंजनावग्रह और श्रोत्रेन्द्रिय व्यंजनावग्रह, इस प्रकार व्यंजनावग्रह के चार भेद[1] और मिलाने से मतिज्ञान के २८ भेद हुए। उक्त भेद बारह प्रकार से पृथक-पृथक निम्न-न्यूनाधिक विषयों को ग्रहण करते हैं।

वहु,	अल्प
वहुविध,	अल्पविध
क्षिप्र,	अक्षिप्र
अनिश्रीत,	निश्रीत
अनुक्त,	उक्त
ध्रुव,	अध्रुव।[2]

उपर्युक्त बारह और अट्ठाईस भेदों को परस्पर गुणा करने से ३३६ भेद मतिज्ञान के हुए और बुद्धिजन्य चार भेद—औत्पातिकी-बुद्धि, वैनयिकीबुद्धि, कार्मिकी बुद्धि, परिणामिकी बुद्धि।[3] इस प्रकार मतिज्ञान के कुल तीन सौ चालीस भेद हुए। जातिस्मरणज्ञान मतिज्ञान के अन्तर्गत ही माना गया है। इसलिए जातिस्मरण ज्ञान का पृथक अस्तित्व नहीं है।

महोपकारी श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञान की महत्ता सर्वविदित है। श्रुतज्ञान की आराधना करके अतीत काल में अनन्त जीवात्माएँ भवसागर से पार हुई हैं। वर्तमान काल में असंख्य प्राणी श्रुतज्ञान से लाभान्वित हो रहे हैं और भविष्य काल में इस ज्ञान के निर्देशानुसार अनन्त आत्माएँ सिद्ध स्वरूप में स्थिर बनेंगी। क्योंकि—मेधावी वर्ग सुनकर ही कल्याण मार्ग को और अकल्याण मार्ग को जानता है। अर्थात् हेय और उपादेय तत्त्वों को श्रवण कर ही निज जीवनोपयोगी ग्राह्य तत्त्व का निर्णय करता है।[4]

जिसमें शास्त्रादि की और अन्य शब्दों की भी प्रवृत्ति हो, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।[5] जहाँ मतिज्ञान है, वहाँ श्रुतज्ञान और जहाँ श्रुतज्ञान है वहाँ मतिज्ञान का सद्भाव रहा हुआ है। न कभी मतिज्ञान अकेला रहा और न कभी श्रुतज्ञान अकेला रहा। दोनों ज्ञान सदैव साथ रहते हैं।

---

१ से किं तं वंजणुग्गहे ?
वजणुग्गहे चउविहं पण्णत्ते तं जहा— सोइंदिय वजणुग्गहे घाणिंदिय वजणुग्गहे जिब्भिदियं वं फांसिदिय वंजणुग्गहे········ —नंदीसूत्र

२ बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितासंदिग्धध्रुवाणाम्सेतराणाम्। — तत्वार्थसूत्र १।१६

३ उप्पत्तिया वेणइया कम्मया परिणामिया।
बुद्धि चउव्विहा बुत्ता पंचमा नोवलब्भइ॥ —नन्दीसूत्र

४ सोच्चा जाणइ कल्लाणं सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयंपि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे॥ —दश० ४।११

५ श्रुतानुसारि च श्रुतज्ञानम्। —जैनतर्कभाषा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मतिज्ञान ही श्रुतज्ञान का बीज रूप कारण बनता है। इसलिए मतिज्ञान की उत्पत्ति श्रुतज्ञान के पहले मानी है।[१]

श्रुतज्ञान के चौदह भेद निम्न प्रकार हैं—
अक्षर श्रुत—स्वर और व्यंजनों से होने वाला ज्ञान।
अनक्षर श्रुत—खाँसी, छींक की आवाज विशेष……।
संज्ञी श्रुत—मन पर्याप्ति वाले जीवों की विचारणा विशेष…।
असंज्ञी श्रुत—मन पर्याप्ति रहित जीवों की गुनगुनाहट……।
सम्यक् श्रुत—जिस ज्ञान से जीवात्मा को सही बोध की प्राप्ति हो।
मिथ्या श्रुत—जिसके कारण प्राणी, हिंसा, झूठ, चोरी प्रवृत्तियों में प्रवृत्त हो।
सादि श्रुत—जिस श्रुतज्ञान की आदि हो।
अनादि श्रुत—जिस श्रुतज्ञान की आदि नहीं हो।
सपर्यवसित श्रुत—अन्त सहित श्रुतज्ञान।
अपर्यवसित श्रुत—अन्त रहित श्रुतज्ञान।
गमिक श्रुत—दृष्टिवाद सम्बन्धित ज्ञान।
आगमिक श्रुत—कालिक सूत्रों का ज्ञान।

अंग प्रविष्ट—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्म, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद।

अंग बाह्य—आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त। छह आवश्यकों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र "आवश्यक" और कालिक, उत्कालिक सूत्रों का प्रतिपादन "आवश्यक-व्यतिरिक्त।"

अवधिज्ञान : एक परिचय

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद—विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष और सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष।[२] अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान को विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष की कोटि में माना है। क्योंकि—उक्त दोनों प्रकार के ज्ञान यद्यपि आत्मा से सम्बन्धित हैं, फिर भी केवलज्ञान की अपेक्षा अधूरे, अपूर्ण हैं।[3] अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला और मर्यादित जड़गुणात्मक रूपी द्रव्यों का साक्षात्कार कराने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं।[४]

"भवप्रत्यय" और "गुणप्रत्यय" के भेद से अवधिज्ञान के दो प्रकार हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान प्रत्येक समदृष्टि देव, नारक एवं तीर्थंकरों को जन्म से ही होता है। निश्चय नय की अपेक्षा क्षयोपशम अन्तरंग कारण और तपश्चरण आदि धार्मिक अनुष्ठान बहिरंग कारण के प्रभाव

---

१ जत्थ आभिणिबोहिय नाणं तत्थ सुयनाणं जत्थ सुयनाणं तत्थ आभिणिबोहिय नाणं, दोऽवि एयाइं अण्ण, मण्ण मणुगयाइं तहवि पुण इत्थ आयरिया नाण तं पण्ण वयंत्ति, अभिनिबुज्झ इत्ति आभिणिबोहि नाणं सुणेइत्ति सुयं, मई पुव्वं जेण सुयं, न मई सुय पुव्विया।

—नन्दीसूत्र

२ तद् विकलं सकलं च —प्रमाणनयतत्त्वालोक २।१९

३ तत्र विकलमवधि मनःपर्यवज्ञान रूपतया द्वेधा। —प्रमाणनयतत्त्वालोक २।२०

४ अवधिज्ञानावरण विलय विशेष समुद्भवं भवगुण प्रत्ययं रूपी द्रव्यगोचरमवधिज्ञानम्॥

—प्रमाणनयतत्वालोक २।२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से कतिपय संज्ञी मनुष्य और संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच प्राणियों को उत्पन्न होता है। फिर भी सभी के अवधिज्ञान में तरतमता अवश्य रहती है, एक समानता नहीं।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह भेद इस प्रकार हैं—[१]

अनुगामी—ज्ञानी के साथ-साथ रहने वाला।
अननुगामी—उत्पत्ति के स्थान तक सीमित, आगे नहीं।
हीयमान—उत्तरोत्तर क्षीणता की ओर बढ़ने वाला।
वर्द्धमान—उत्तरोत्तर विकसित होने वाला।
अवस्थित—कायम रहने वाला।
अनवस्थित—उत्पन्न होकर पुनः नष्ट हो जाय।

मनःपर्यवज्ञान

"मनःपर्यवज्ञान" यह विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष का दूसरा भेद है। संयमी क्रियाओं की विशिष्ट विशुद्धि से और मनःपर्यवज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। जो केवल संज्ञी प्राणियों के मनोगत भावों को जानने में सक्षम होता है।[२]

यद्यपि अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्यवज्ञान विशुद्ध अवश्य है पर जानने का क्षेत्रफल मनःपर्यवज्ञान का काफी संकीर्ण और सीमित रहा हुआ है। उसका कारण यह है कि—उन देहधारियों की आन्तरिक भूमिका जैसी चाहिए वैसी उच्चस्तरीय नहीं रहती और दूसरा कारण है तत्सम्बन्धी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की प्रतिकूलता। इस कारण मनःपर्यवज्ञान न नारकीय जीवों को, न देवलोक वासियों को, न पशु-पक्षियों को, और न नर-नारियों को होता है। केवल ऋद्धि प्राप्त, अप्रमत्त, संयत, समदृष्टि पर्याप्त, संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमि के गर्भज मनुष्यों को उत्पन्न होता है।[3]

इसके मुख्य दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। शुद्धता की दृष्टि से दोनों में कुछ तरतमता अवश्य रही हुई है।[४]

केवलज्ञान

सम्यग्दर्शन आदि अन्तरंग सामग्री और तपश्चरण आदि बाह्य सामग्री से समस्त घाति (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) कर्मों का मूलतः क्षय होने पर १३वें गुणस्थानाधिपति आत्मा को उत्पन्न होने वाला समस्त द्रव्य और पर्यायों को जानने वाला ऐसा केवलज्ञान उत्पन्न होता है। उसे सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं।[५]

---

१ अहवा गुण पडिवन्नस्स, अणगारस्स ओहिनाणं समुपज्जइ तं समासओ—छव्विहं पण्णत्तं, तं जहां—आणुगामियं, अणाणुगामियं, हीयमाणयं, बड्ढमाणयं, पडिवाइयं, अपडिवाइयं……।

—नन्दीसूत्र ६

२ संयम विशुद्धि निबन्धनाद् विशिष्टावरण विच्छेदाज्जातं मनोद्रव्य-पर्यायालम्बनं मनःपर्यायज्ञानम्। —प्रमाणनयतत्त्वालोक २।२२

३ गोयमा ! इड्ढीपत्त अपमत्त संजय सम्मदिट्ठी पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय, कम्मभूमिय-गब्भवक्कंतिय मणुस्साणं, नो अणिड्ढीपत्त-अपमत्त संजय समदिट्ठी पज्जत्तग संखेज्जवासाउय कम्मभूमिय गब्भवक्कंत्तिय मणुस्साणं मनपवज्जनाणं समुपज्जई। —नन्दीसूत्र १७

४ ऋजु विपुलमति मनःपर्यायः विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः। —तत्वार्थसूत्र १।२४।२५

५ सकलं तु सामग्री विशेषतः समुद्भूतं समस्तावरण क्षयापेक्षं।
निखिल द्रव्य पर्याय साक्षात्कारि स्वरूपं केवलज्ञानम्॥

—प्रमाणनयतत्त्वालोक २।२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवलज्ञान की उपलब्धि सर्वोत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। आत्म-साधना की परिपक्व अवस्था की चरमोत्कृष्ट फलश्रुति कहा जा सकता है। दुष्प्राप्य इस निधि की उपलब्धि सहज में प्रत्येक साधक को नहीं हुआ करती है। क्योंकि सशक्त साधना और साधनों की उसमें परमावश्यकता है। उनके अभाव में साध्य सिद्ध नहीं होता है। भले वे साधक कहीं पर रहते हों, किसी वेश देश में हों, अगर उन्होंने घातिकर्मों पर विजय प्राप्त कर ली तो निश्चयमेव उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। केवलज्ञान के पात्र सीमित अवश्य हैं पर केवलज्ञान का ज्ञेय विषय समस्त लोकालोक अनन्त द्रव्यों को और उनकी त्रैकालिक सब पर्यायों को युगपत जानना है।

यह ज्ञान मनुष्य, सन्नी, कर्मभूमिज, संख्यात वर्ष की आयु वाले, पर्याप्त, समदृष्टि, संयत, अप्रमादी, अवेदी, अकषायी, चार घातिकर्म नाशक, १३वें गुणस्थानवर्ती, वीतराग मुनियों को प्राप्त होता है। केवलज्ञान में सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, सर्व काल और सर्व भाव, हस्तामलकवत् प्रकाशित होते हैं। "**केवलमेगं सुद्धं वा, सकलमसाहारणं अणंतं च**" यह ज्ञान शुद्ध, असाधारण, अनन्त एवं अप्रतिपाती है। यह एक बार उत्पन्न होकर फिर कभी नष्ट नहीं होता है। केवलज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् जघन्य अन्तर्मुहूर्त में और उत्कृष्ट ८ वर्ष कम करोड़ पूर्व में मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org